

○.....  
 सत्ता की अपनी राजनीति होती है। सत्ता द्वारा सभी चीजें इसके इर्द-गिर्द ही परिभाषित की जाती हैं। शिक्षा में राजनीति के प्रभावी हस्तक्षेप का जरिया पाठ्यपुस्तकों को बनाया जाता रहा है। जिससे कि विद्यार्थियों के मन को अपनी विचारधारा के अनुकूल रंगा जा सके। यथास्थिति बनाये रखने के लिए यह प्रभाव झीना और दूरगामी होता है जो अन्ततः राजनैतिक हित साधन का ही माध्यम बनता है। प्रस्तुत लेख में विश्लेषण किया गया है कि कैसे समान रूप से 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के पक्षधर एवं 'प्रगतिशील' तथा 'धर्मनिरपेक्ष' कही जाने वाली राजनैतिक विचारधाराएं वर्ग आधारित, स्तरीकृत समाज व्यवस्था, सांप्रदायिक एवं स्त्री विरोधी मूल्यों को पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से प्रेषित करती हैं।

## यह सड़क गुजरात जाती है

□ हिमांशु

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की नियुक्ति के बाद उनके द्वारा तीसरी और चौथी कक्षाओं के लिए हिंदी की रीडर तैयार किया जाना एक ऐतिहासिक घटना है। यह प्रकाशन 1932 का है। प्रो. कृष्ण कुमार के अनुसार हिंदी भाषा और साहित्य को एक गैर-मुस्लिम अस्मिता के साथ जोड़ने के प्रयास की बुनियाद वहीं से पड़ गई थी। यह प्रक्रिया अपनी निरंतरता में आज भी विद्यमान है। सच तो यह है कि 'साहित्य' नामक कालांश के पाठ्यक्रम निर्धारक इसे बच्चों को मूल्य बोध प्रदान करने का प्राथमिक माध्यम मानकर चलते हैं। यह बहस तो अपनी जगह रहेगी ही कि इस एकांगी लक्ष्य के चलते हमारे बच्चे ऊबकर साहित्य से कितने दूर चले गये किन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि अपनी संवेदनात्मक दृष्टि के कारण इतिहास, समाज शास्त्र के रूढ़ सिद्धांतों या राजनीति विज्ञान/नागरिक शास्त्र को भी कारगर तरह से विद्यार्थियों के मानस में बिठा देने में 'हिंदी' की पतली-सी किताब सक्षम होती है। साहित्य का उपोत्पाद के रूप में ऐसा इस्तेमाल सही है या गलत हम यहां इस बहस में नहीं पड़ना चाहते बल्कि हमारा लक्ष्य यह देखना है कि जो मूल्य बोध ये किताबें दे रही हैं वह बालक के व्यक्तित्व विकास को क्या परिप्रेक्ष्य देता है।

इस हेतु हमने यहां वर्तमान में पढ़ाई जा रही माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान की कक्षा 9,10,11 और 12 की अनिवार्य एवं वैकल्पिक हिन्दी की किताबों को चुना है। 9 वीं एवं 11 वीं की किताबों का प्रकाशन वर्ष 2003 का है जबकि 10 वीं एवं 12 वीं की किताबों का प्रकाशन वर्ष 2004 है। तब राजस्थान में भी श्री अशोक गहलोत वाली कांग्रेस की सरकार थी। एनसीईआरटी

की किताबों के भगवाकरण की बहस फिजाओं में थी। बहस के केन्द्र में दो विषय थे- इतिहास और साहित्य। राजस्थान में श्री भैरोंसिंह शेखावत के मुख्यमंत्री काल की किताबों के सांप्रदायिक होने का काफी हल्ला था। वे थीं भी। इनका फौरी हल यह निकाला गया कि कुछ बेहद 'आपत्तिजनक' पाठों को किताब से हटा दिया गया। इसमें एक दिक्कत थी। यदि पृष्ठ के एक ओर स्वीकृत और दूसरी ओर खारिज पाठ हो तो क्या किया जाए। अतः प्रकाशकों ने इस पृष्ठ को बरकरार रखते हुए पृष्ठ के दूसरी ओर गहरी स्याही फेरकर काला किया (मेरा छोटा भाई तब स्कूल में था। वह और उसके सहपाठी प्रकाश के सामने कागज को रखकर धुंधले स्याह अक्षरों को पढ़ने की कोशिश करते थे।)। पुस्तकों के परिवर्तन के लिए नई पाठ्यक्रम समिति निर्मित हुई। इसकी अनुशंसा पर नई पुस्तकें छपकर आते-आते सरकार फिर बदल चुकी थी। अब पुनः भाजपा का शासन था व श्रीमती वसुंधरा राजे सिंधिया मुख्यमंत्री थीं। किताबें फिर बदलने की चर्चा चली किन्तु अभी तक ये किताबें बदली नहीं गई हैं। हो सकता है इस बार भी कुछ पाठ जोड़ घटा कर काम चला लिया जाए। हमारा सवाल यह है कि पूरी किताब से जो परिबोध उभरकर आता है क्या उसे कुछ पाठ जोड़ घटा कर संतुलित किया जा सकता है ? हमारा आगे इस लेख में\*

\* पत्र मूलतः पीयूसीएल, राजस्थान के छठे राज्य सम्मेलन (बीकानेर) में 'मानवाधिकार एवं शिक्षा' सत्र में पढ़ा गया था। सत्र में प्रतिभागियों से बातचीत (विशेषकर अपूर्वानंद और राजाराम भादू की टिप्पणियों) एवं इसे लेख की शक्ल देते समय शिवकुमार गांधी के सुझावों से मदद मिली।

यह दिखाने का प्रयास रहेगा कि यदि 'धर्म निरपेक्षता' पर चली बहस के स्थूल पक्षों को छोड़ दें तो जो सूक्ष्म सांस्कृतिक बोध ये किताबें (जो कि धर्म निरपेक्षता के ऐजेंडे के तहत लिखवाई गई थीं।) प्रदान कर रही हैं वह कमोबेश 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के ढांचे में फिट बैठता है।

हमने इस लेख में एक किताब को विशेष अध्ययन के लिए चुना है व शेष किताबों के प्रासंगिक अंशों पर यथास्थान टिप्पणियां हैं। यह बारहवीं कक्षा की अनिवार्य हिन्दी में पढ़ाई जा रही किताब है- 'कथाकुसुम'। इसमें हिन्दी के चर्चित कथाकारों की बारह कहानियां संकलित हैं। सबसे पहले यशपाल की कहानी 'जीवदया' को लें। इस कहानी का वाचक माथुर है जो वैजिटेरियन नहीं है किंतु अंडे से उसे मानसिक विरक्ति है। इसके मूल में बचपन की एक कटुस्मृति है जो वह लेखक को सुनाता है - उसके एक मास्टर जी का बेटा जब निमोनिया की चपेट में था। (तब तक पैनिसिलीन का आविष्कार नहीं हुआ था। तब डॉक्टरों द्वारा अंडे का लेप बच्चे की छाती पर करने की सलाह दी गई।)। अपने धार्मिक विश्वास के चलते मास्टर जी ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उनका बेटा मौत के मुंह में चला गया। बाद में पत्नी को तपेदिक हुआ इस बार कॉड लिवर ऑयल दिया जाना था जो मछली के तेल से बनता है। मास्टर जी ने मान लिया किंतु इस बार पत्नी ने ठुकरा दिया और वे भी नहीं रहीं। स्पष्टतः यशपाल ने यह कहानी खोखले धार्मिक विश्वासों पर व्यंग्य करने के लिए लिखी है। अंत में माथुर और लेखक की बातचीत के जरिए वे अपना पक्ष रख देते हैं कि धर्म और विश्वास परलोक प्राप्ति का साधन नहीं हैं बल्कि इस संसार में मनुष्यों का जी सकना वास्तविक धर्म है। यह एक संवेदनशील कहानी है जो मास्टर जी को उपहास अथवा खलपात्र के रूप में नहीं बल्कि अंधविश्वासों में जकड़े एक असहाय पात्र के रूप में चित्रित करती है किन्तु इस कहानी की भूमिका एवं अभ्यासार्थ प्रश्न इस कहानी के संदेश को बिल्कुल उलट देते हैं। संपादक उद्धृत करते हैं - "जैसे मेरा बच्चा है वैसे ही अंडा पक्षी की संतान है। मैं अपने बच्चे के लिए दूसरे के बच्चे के प्राण कैसे ले लूं?" ये शब्द हैं उस पिता के जिसका बच्चा अंतिम सांसों गिन रहा था।

संपादक अपनी भूमिका में इस कहानी को मास्टर जी की गौरवगाथा में बदल देते हैं जिन्होंने अपने जीवदया के सिद्धांत पर बेटे को न्यौछावर कर दिया। पत्नी का मौन प्रतिशोध भी इस बलिदान परम्परा की कड़ी बन जाती है।

यशपाल एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी रचनाकार थे जिन्होंने जीवन भर धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ रचना की। उनकी एक और कहानी 'खच्चर और आदमी' में यह बात और स्पष्टता से उभर कर आयी

है। समुद्रतट से 20 हजार फीट की ऊंचाई पर हिमप्रदेश में फंसे एक पर्वतारोही दल में जहां एक खच्चर अस्तित्व रक्षा के लिए परिस्थिति अनुसार शाकाहारी से मांसाहारी हो जाता है वहीं धार्मिक संस्कारों में जकड़ा एक वैष्णव निर्वस्त्र न होने व ब्रांडी न पीने के कारण प्राण गंवा बैठता है। यशपाल का मंतव्य दोनों कहानियों में स्पष्ट है। उनकी कहानी का शीर्षक 'जीवदया' उसी प्रकार व्यंग्यपरक है जैसे प्रेमचन्द की कहानी का शीर्षक 'सदगति', किंतु लगता है सम्पादक व्यंजना नहीं समझते या अपनी सुविधानुसार समझना नहीं चाहते। प्रश्नोत्तर खंड में एक बहुविकल्पी प्रश्न है -

मुर्गी के अण्डे का लेप नहीं करने के पीछे मास्टर जी की क्या भावना थी-

- (अ) अण्डा भी किसी का बच्चा था।
- (ब) डॉक्टर की बात पर विश्वास नहीं था।
- (स) मास्टर जी आर्य समाजी थे।
- (द) मास्टरनी जी ने मना कर दिया था।

पुस्तक में उत्तर कुंजी नहीं है। मेरी दृष्टि में (स) उत्तर सीमित संदर्भ में सही है। सीमित इसलिए क्योंकि यह 'आर्य समाजी' होने को एक विश्वास के रूप में चित्रित नहीं करता कि जो प्रश्न योग्य हो बल्कि इसे एक सहज तथ्य के रूप में रखता है गोया आर्य समाजी होना और शाकाहारी होना अन्योन्याश्रित क्रियाएं हों और किसी समुदाय विशेष के सदस्यों के खानपान आचरण के बंधे बंधाए नियम होते हों। वैसे भूमिका ध्यान में रखें तो सम्भवतः पुस्तक के सम्पादक (अ) उत्तर को सही मानते होंगे जिसे मान लेने पर 'अंडा भी किसी का बच्चा था' यह एक सार्वभौम स्थापित तथ्य हो जाता है। मास्टर जी का विश्वास पाठ पढ़ने वाले सभी बच्चों का विश्वास बन जाता है। पाठ की सारी प्रश्नाकुलता खत्म हो जाती है और यह नैतिक शिक्षा की कथा बन जाती है।

नैतिक शिक्षा के इस बखान के बीच अचानक सम्पादक को याद आता है कि मांसाहार को गलत न मानने वाले लोग भी इस समाज में हैं और संभवतः वे भी इस पाठ को पढ़ेंगे। तब वे संतुलन साधते हुए निबंधात्मक प्रश्न पूछते हैं- "अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने में शाकाहार का महत्त्व अधिक मानते हैं या मांसाहारी भोजन का ? आपकी अपनी मान्यता अपने तर्क के साथ 125 शब्दों में लिखें।" यह ओढ़ी हुई निरपेक्षता है। सम्पादक इस बात को समझने में असमर्थ है कि भारत (और दरअसल पूरी दुनिया) की संरचना सांस्कृतिक बहुलता वाली है जिसमें शाकाहारी-मांसाहारी- सीमित-मांसाहारी-फलाहारी सभी तरह के लोग रहते हैं और उनका सह-अस्तित्व सबसे बड़ी सच्चाई है। इसकी बजाय यह सवाल शाकाहार

बनाम मांसाहार की बेमतलब की बहस में उलझ जाता है जो अंततः छात्र को अपने खान-पान की पद्धति को बेहतर मानने और 'अन्य' को स्वीकार न करने की तार्किक परिणति तक ले जाता है।

अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता' के परिचय में लिखा हुआ है - "देश के बंटबारे के समय की कहानी, हिन्दू-मुस्लमान आपस में प्रेम और भाईचारे से रहते थे। एक मुस्लमान ने अपने हिन्दू मित्र को भारत जाने से रोका। उत्पातियों दंगाइयों से उसकी रक्षा करने हेतु हिन्दू मित्र को अपने घर में शरण दी। वह भी ऐसे समय में जब कि सब तरफ आग थी, साम्प्रदायिकता का तूफान था। सब कुछ जल रहा था। अपने घर में खतरे की आशंका से अपने हिन्दू मित्र को अन्यत्र अपने दूसरे मित्र के यहां पहुंचा दिया। सब जन एक से नहीं होते। शरणागत की प्राण गंवा कर भी रक्षा की जाती है। शरणदाता शरणागत की जान लेने का प्रयास नहीं करता।" अंतिम वाक्य पर सहज ही प्रतिप्रश्न उठता है - और जो शरणागत न हो तो ? तो क्या जान लेने का प्रयास वाजिब है ?

यह समझने की जरूरत है कि दक्षिण पंथी विचार भी 'न्यायपूर्ण' ही दिखने की कोशिश करता है। गुजरात के नरसंहार को 'न्यायोचित' ठहराने के लिए न्यूटन के सिद्धांत को काम में लिया जाता है। भारत के वर्तमान संदर्भ में शरणागत की अर्थ छवि बहुत व्यापक है। गोलवलकर की 'बंच ऑफ थॉट्स' के पुण्य विचारों के अनुसार इस देश में अल्पसंख्यकों का 'खुशी-खुशी' रह सकना बिल्कुल संभव है बशर्ते कि वे अपनी हैसियत पहचानकर उसके मुताबिक रहें। जब-जब वे सर उठायेंगे, उन्हें एकाध 'गुजरात' के जरिए अपनी हैसियत बता दी जाएगी। हां, शरणागत की जान लेने का प्रयास नहीं किया जाएगा ! दरअसल, 'सब एक नहीं होते' संपादक महोदय की इस टिप्पणी का अर्थ भी गहरा है। कहानी में रफीकुद्दीन (सम्पादक महोदय ने भूमिका में नामों को नहीं धार्मिक पहचानों को ही परिचय योग्य समझा। अतः नाम अब सामने आ रहे हैं) देविंदरलाल को अपने यहां रखते हैं, फिर हालात बिगड़ने पर अपने एक और मुसलमान दोस्त के यहां छुपाते हैं। वहां देविंदरलाल को जहर देने का प्रयास किया जाता है। 'सब जन एक से नहीं होते' - अचानक यह टिप्पणी रफीकुद्दीन को

अपवाद बना देती है और उसके मुस्लिम दोस्त को प्रतिनिधि मुस्लिम चेहरा। कुछ बरस पूर्व हमारे पूर्व प्रधानमंत्री अटल जी गोवा में कह ही चुके हैं कि इस्लाम और शांति एक साथ नहीं रह सकते। बाद में उन्होंने अपने को सुधारा कि वे तो आतंकवादी इस्लाम की बात कर रहे थे, उदारवादी इस्लाम की नहीं ! बहरहाल अंतिम तीन पंक्तियों पर ध्यान दें। शरणागत की प्राण गंवाकर रक्षा की जाती है, रफीकुद्दीन ने नहीं की। शरणदाता, शरणागत की जान लेने का प्रयास नहीं करता, रफीकुद्दीन के मुस्लिम दोस्त ने किया। इस प्रकार 'सब जन एक से नहीं होते' विस्तृत होकर - 'मुसलमान हिंदुओं जैसे नहीं होते' तक पहुंच जाता है। अच्छा, इन 'अलग जनों' में कौनसा मूल्य ऋणात्मक है जो 'सब जनों' में होता है ? शरणागत की रक्षा न करने/प्राण लेने का ? साम्प्रदायिक दंगों में कल्लेआम को जायज-सा मानते हुए यह टिप्पणी 'शरणागत की रक्षा' को सबसे बड़े मूल्य के रूप में स्थापित कर रही है।

निश्चित रूप से अज्ञेय का उद्देश्य ये नहीं था। जब सारा तत्कालीन हिंदी लेखक समुदाय आजादी के जश्न में डूबा था तब अकेले अज्ञेय फैज आदि शायरों के सुर में सुर मिलाकर कह रहे थे - 'ये दाग दाग उजाला ये शब: गजीदा सहर। वो इंतजार था जिसका ये वो सहर तो नहीं'। पर इस कहानी में उम्मीद की किरण भी है और एक

स्पष्ट संदेश भी। जिस मुस्लिम परिवार में देविंदरलाल की जान लेने का प्रयास किया जाता है उसी परिवार की लड़की द्वारा सूचना देने से देविंदरलाल बच पाते हैं। दिल्ली लौटने के बाद उन्हें उस लड़की जैबुन्निसा की चिट्ठी मिलती है जो कहती है कि वे उसके अब्बा के जान लेने की कोशिश को याद करते हुए ये भी याद कर लें कि उनकी बेटी ने ही उन्हें बचाया था। जैबुन्निसा जोड़ती है कि वे भी अपने मुल्क में किसी अल्पसंख्यक को खतरे में होने पर बचाएं। 'इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि आप इंसान हैं।' कहानी सामुदायिक पहचानों के घर्षण के दौर में सार्वभौम मानवीय पहचान को न खोने का संदेश बहुत खूबसूरती से देती है पर दुर्भाग्य से सामुदायिक भेद को स्थापित तथ्य (सब जन एक से नहीं होते) के रूप में स्वीकार करने वाले सम्पादक की टिप्पणी में यह अंश बिल्कुल छूट जाता है।

क्यों भाजपा के शासनकाल में भी ये पुस्तकें बहुत असुविधानजक प्रतीत नहीं होतीं और जारी रह पाती हैं। चंद पाठों के फेरबदल से परिप्रेक्ष्य नहीं बदल जाता और यह परिप्रेक्ष्य कमोवेश सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आधारभूमि वाला ही है। दरअसल हमारा कहना यह है कि दक्षिणपंथी विचार को ऐसा ही प्रगतिशील पाठ्यक्रम सबसे अनुकूल रहेगा जो सामुदायिक भेद और सामाजिक स्तरीकरण को सांस्थानिक वैधता प्रदान करे और साथ ही सहिष्णु भी दिखे। इस कसौटी पर भाजपा कांग्रेस में कोई मौलिक अंतर नहीं है।

पुस्तक में प्रेमचंद की कहानी 'बड़े घर की बेटी' संकलित है। यह प्रेमचंद के शुरूआती दौर की कहानी है। प्रेमचंद अपने शुरूआती दौर में संयुक्त परिवार पर टिकी ग्रामीण आर्थिक संरचना के पक्षधर थे पर साथ ही एक कुशल रचनाकार की तरह उसके विघटन की ऐतिहासिक प्रक्रिया को देख भी पा रहे थे। इस कहानी में यह प्रक्रिया चित्रित है (और प्रेमचंद की पक्षधरता भी)। सम्पादक इस प्रक्रिया को नजरअंदाज करते हुए कहानी को और ही अंदाज में पढ़ते हैं। वे लिखते हैं - "बेटी बड़े घर की हो या छोटे घर की। बहू बन कर जिस घर में जाती है उस को टूटने से बचाने की जिम्मेदारी होती है उसकी।"

अपनी प्रगतिशीलता दिखाने के लिए उन्होंने छोटे घर की बेटियों को भी महत्त्व दिया पर साथ ही यह स्थापित कर दिया कि कुछ घर 'बड़े' होते हैं और कुछ 'छोटे'। निश्चित रूप से यह प्रेमचंद का अभिप्रेत नहीं था। दूसरी पंक्ति संयुक्त परिवार को आदर्श के रूप में स्थापित करने का भी दयनीय प्रयास कर रही है और इसकी जिम्मेदारी बहू पर भी डाल रही है। आज सन् 2005 में जब स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व किसी की दया का मोहताज नहीं है, यह टिप्पणी पारिवारिक संरचना के भीतर उसकी भूमिका को सीमित करने का प्रयास कर रही है। यदि संयुक्त परिवार आदर्श है तो भी उसे टूटने से बचाने की जिम्मेदारी बहू की कैसे हो गई? प्रेमचंद बेटी की बात कर रहे थे, सम्पादक ने स्थापना दी कि बेटी के बहू बनने के बाद उसकी प्राथमिक जिम्मेदारी उसका ससुराल ही है। बेटी जिस घर में बहू बन कर जाए वही उसका असली घर होता है। हमारे किशोर छात्र-छात्राएं इस सीख को गांठ बांध सकते हैं।

अच्छा, कुल मिलाकर यह संग्रह स्त्री का कैसा चेहरा पेश करता है? फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'संवदिया' की टिप्पणी पंक्ति है, - "परिवार की बड़ी बहू," आगे है "संवदिया बड़ी बहू को गांव की लक्ष्मी मानता था।" भीष्म साहनी की कहानी 'माता विमाता' पर टिप्पणी प्रारंभ होती है - "एक बच्चा दो माएं। एक ने जन्म दिया। दूसरी ने पाला। बिना पिता के, अवैध बच्चे को लोकलाज के डर से मां स्वयं नहीं रखना चाहती ...।" मन्नू भंडारी की चयनित कहानी है - 'रानी मां का चबूतरा'। सावित्री परमार की कहानी 'एक आग यह भी' 'अपनी कोख को हरी रखने के लिए दूसरों का घर जला देने वाली अंधविश्वासी व स्वार्थी मां' के बारे में है। मां और बहू स्त्री की यही पहचानें कहानी संग्रह से उभरकर सामने आती हैं।

भीष्म साहनी की ऊपर उल्लिखित कहानी में बच्चे की जन्मदात्री मां अकेली है, इसका उल्लेख है पर उसके अकेलेपन की स्पष्ट वजह नहीं लिखी है। सम्पादक महोदय आगे बढ़कर अनुमान लगा लेते हैं कि 'बिना पिता के' बच्चे 'अवैध' ही होते हैं और मां

उसे 'लोकलाज के डर से' ही नहीं रखना चाहती थी। फिजूल के आर्थिक कारकों की उपेक्षा भी हो जाती है और हमारे किशोर पाठकों को 'सामाजिक मर्यादा' की सीख भी मिल जाती है।

यहां हम प्रासंगिक होने के कारण कक्षा 11 में अनिवार्य हिंदी में चल रहे खंडकाव्य 'यशोधरा' के बारे में भी बात करना चाहेंगे। मैथिलीशरण गुप्त ने इस काव्य के माध्यम से गौतम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के बाद यशोधरा की वेदना, उसके संघर्ष और स्वत्व की खोज को सामने रखा है। बुद्ध के लौटने पर प्रतिपक्ष में खड़ी यशोधरा उन्हें अपने तर्कों से कठघरे में खड़ा कर देती है। यशोधरा का उदात्त चरित्र स्त्री को मुक्ति मार्ग में बाधा मानने के मिथक का सशक्त प्रतिकार करता है। किंतु पुस्तक के संपादक यशोधरा को यथा संभव हाशिये पर रखते हैं। भूमिका में 55 पंक्तियों में बुद्ध का जीवन चरित्र है। इसमें बुद्ध को एक ऐसे महामानव के रूप में चित्रित किया गया है जिसे जन्म देकर ही उनकी जननी कृतकृत्य होकर मुक्ति पा गयी। जिनमें बाल्यकाल से ही वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। इसके बाद पांच पंक्तियों में यशोधरा का चरित्र चित्रण है जिसमें उन्हें पति की सफलता की कामना करने वाली तथा लोककल्याण के लिए उनके जाने पर गर्वित पत्नी के रूप में दिखाया गया है। अंत में प्रश्नों में अनुपात इस प्रकार है : वस्तुनिष्ठ प्रश्न (10)- बुद्ध - 9, यशोधरा-1, अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न (10) यशोधरा-0 / लघूत्तरात्मक प्रश्न (10)- बुद्ध- 7, यशोधरा-3/वर्णनात्मक प्रश्न (7) यशोधरा -2।

(पुनः कथा कुसुम) ईश्वर चंदर की संकलित कहानी 'अंदर का बौनापन' दो भाइयों की कहानी है। छोटे भाई ने विदेश में एक नीग्रो लड़की से शादी कर ली है। उसके लौटने और दोनों भाइयों के पूंजी आधारित संबंधों के खोखलेपन की कथा है यह, पर कथा पर टिप्पणी और प्रश्न बड़े भाई को सहानुभूति के साथ और छोटे भाई को खलनायक के रूप में चित्रित करते हैं और बड़े भाई से भी बड़ी खलनायिका है उसकी नीग्रो पत्नी जो काली भी है और असुंदर भी। प्रश्न 9 - "टिक्कू जिस घर में पला बढ़ा जिस भाई-भाभी ने उसे पाला पोसा उनकी भावनाओं को समझना जरूरी था या अपनी पत्नी की सुविधाओं का ध्यान उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था?" 'भाई-भाभी की भावनाओं' के सामने 'पत्नी की सुविधा' को गौण और इसीलिए त्याज्य मानता है। इसे कृपया 'घर को टूटने से बचाने की जिम्मेदारी बहू की होती है' के साथ जोड़कर देख लीजिए; सबको खिलाकर अंत में रूखा सूखा खाने वाली आदर्श गृहणी का चेहरा साकार हो जाएगा। प्रश्न 10 - "टिक्कू का अपने परिवार की खुशियां अपनी संस्कृति और परम्परा से अलग जाकर एक असुंदर धनी विदेशी महिला से विवाह के पीछे टिक्कू की अपनी क्या मानसिकता रही होगी?" इसमें तीन विशेषण हैं -

असुंदर, धनी, विदेशी। 'धनी' दरअसल सवाल में छुपा हुआ जवाब है। इस सवाल में तीन अन्तर्निहित स्थापनाएं हैं- 1. किसी असुंदर और विदेशी महिला से शादी करने से परिवार की खुशियां, संस्कृति और परम्परा को आघात पहुंचता है तथा 2. नीग्रो महिलाएं असुंदर होती हैं और 3. असुंदर महिला से शादी सामान्य परिस्थितियों में नहीं की जाती; टिककू ने की है तो जरूर कोई कारण रहा होगा।

इस कहानी संग्रह की अंतिम कहानी सर्वाधिक समस्यापूर्ण है। स्वयं लेखक, जो अब इस दुनिया में नहीं रहे, इसके चयन से खुश नहीं थे। यह कहानी है डॉ. आलमशाह खान की कहानी - 'रणराग'। आलमशाह खान समान्तर कहानी आंदोलन से जुड़े राष्ट्रीय ख्याति के रचनाकार रहे हैं। उनकी निम्नवर्ग के पात्रों को लेकर लिखी गई अनेक अविस्मरणीय कहानियां मौजूद हैं पर वे ज्यादातर मुस्लिम परिवारों की कहानियां हैं। उन कहानियों के बजाय सम्पादक को वह कहानी चुनना ज्यादा मुफीद लगा जो 'हिन्दू संस्कृति' की गौरव गाथा कहती हो। इससे साम्प्रदायिक सद्भाव को भी बल मिलता है! यह कहानी राजस्थानी संस्कृति का एक प्रतिनिधि चेहरा प्रस्तुत करती है - शौर्य और बलिदान की भूमि वाला चेहरा। अस्सी वर्ष का हाडा हल्लू युद्धोन्माद से ग्रस्त होकर आस-पड़ोस के राजाओं को रणयाचना का संदेश भेजता है। मंडोर के राजा हम्मीर द्वारा हल्लू की पाग के अपमान से युद्ध सुनिश्चित हो जाता है। युद्ध में जा रहे हल्लू के छोटे भाई रोपाल को जब उसकी रानी 'विचलित' देखती है तो वह

उसके 'वीर धर्म की पूर्ति में आ रहे मोह' को दूर करने के लिए जौहर कर लेती है। सेना जब मंडोर पहुंचती है तो वहां शांति का प्रतीक सफेद ध्वज फहराता मिलता है। हम्मीर के दरबार में जब हम्मीर द्वारा दिया गया राजकुमारी का हल्लू से विवाह का प्रस्ताव हल्लू रोपाल की ओर घुमाता है तब पत्नी के जौहर के बाद युद्ध प्रण से बंधा रोपाल उठकर सभा में मंडोर के क्षत्रियों को युद्ध के लिए ललकारता है। कोई उत्तर न मिलने पर स्वयं हल्लू उठकर अपने

अनुज की रणयाचना के प्रत्युत्तर में प्रस्तुत होता है। अतिथि का युद्ध प्रस्ताव खाली जा रहा देख मंडोर का छोटा राजकुमार प्रस्तुत होता है और फिर उसे भी पीछे कर स्वयं हम्मीर। अंततः हम्मीर और रोपाल के बीच युद्ध होता है। मात्र युद्ध के लिए लड़े जा रहे युद्ध को यह कहानी चारण काव्य शैली में महिमामंडित करती है - "रोपाल के वार में विद्युत वेग था तो हम्मीर की क्षमता में पर्वत स्थैर्य। रोपाल पगों पर उछल-उछल कर शिखर भंग सक्षम प्रहार करता था तो प्रतिपक्षी अद्भुत संवेग से उन्हें निरस्त कर देता था। दोनों प्रतिद्वंद्वियों के मुख विजय लाभ की लालसा से आरक्त थे किन्तु ईर्ष्याद्वेष का कालुष्य कहीं न था। एक झनकार झाड़ता झपाटा रोपाल की ओर से हुआ और हम्मीर की तलवार टूटकर आधी रह गई। तभी उसने सिंह वेग से अपनी कमर में बंधी कटारें खींच लीं। रोपाल ने भी तलवार फेंककर कटारें निकाल लीं - और अब दोनों राजपूत द्वंद्वयुद्ध पर उतर आए। फिर वही वार पर वार और घात पर घात - इस क्षण हम्मीर का वार रोपाल के मस्तक पर बैठा। रक्त का फुहार फूटा और उसकी ग्रीवा एक और झूल गई और तभी ढहते हुए रोपाल ने जो वार किया तो हम्मीर की आंतडियां बाहर आ गईं। क्षण समूह सरके कि दोनों वीर धराधीन हो तड़पने लगे - दोनों की रक्त धार परस्पर स्वर्थ कर गलबहियां मिलने लगीं। पथराई आंखों में एक दूसरे की वीरछवि उमड़ी। उपस्थित क्षात्र समाज इनकी ओर बढ़ा पर अब तेज उड़ चला था और दोनों की वीर देह जम गई थी स्थिर रक्त में।"

○  
**एक लोकतांत्रिक समाज में भिन्न-भिन्न लोगों/समुदायों का सहिष्णुता पूर्ण व्यवहार पहली शर्त है और इस समुदाय में वैचारिक समुदाय भी शामिल है। उदाहरणार्थ, धर्म को राष्ट्र की एकता का आधार मानने वाला विचार पाठ्यक्रम में जगह पा सकता है बशर्ते वो अपने को अकादमिक विचार के रूप में स्थापित न करे। ये पुस्तकें यही करती हैं, इनमें पाठ को अंतिम सत्य के रूप में स्थापित किया जाता है और विद्यार्थी को पाठ के समक्ष नतमस्तक होना सिखाया जाता है। सच तो ये है कि जिन सकारात्मक संकलनों का हमने अन्त में उल्लेख किया वे भी इस कसौटी पर कोई बहुत अनुकरणीय, उदाहरण पेश नहीं करते। एक सामान्य-सा तर्क है कि बहु-विकल्पी प्रश्नों के उत्तर वस्तुनिष्ठ होने चाहिए किंतु माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान की किताबें विद्यार्थी से एक ऐसे निश्चित विकल्प पर सही का निशान लगवाती हैं जिसमें स्पष्ट व्यक्तिनिष्ठ मूल्यबोध छिपा है।**

○  
 यह शक्ति का मर्दाना विमर्श है। भूमिका में लिखा है - "कहानी प्रेरणा देती है कि अपनी मातृभूमि के मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सब लोभ मोह का त्याग कर प्राणों का बलिदान करने को भी तत्पर रहें।" माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की तमाम किताबों को पढ़कर जो समझ बनती है वो ये कि मातृभूमि से प्रेम का परिचय त्याग एवं बलिदान तथा 'प्राणों को न्यौछावर करके' ही दिया जा सकता है। कहने की जरूरत नहीं कि ये प्राण

सीमा पर ही दिये जा सकते हैं। राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवाद की धुंधली सीमा रेखा मिटती प्रतीत होती है। इस देशप्रेम में प्रेम गायब है। रश्मि, कक्षा 9 में संकलित कविता 'वीरों का बसंत' (सुभद्रा कुमारी चौहान) की भूमिका में लिखा गया है- "वीरों का बसंत प्रकृति का कोमल पक्ष नहीं, अपितु कठोर पक्ष होता है। उसे गरजता हुआ समुद्र और उन्नत सिर हिमालय आह्वान करता है। यह प्रेमलीला का खेल नहीं खेलता वरन् कृपाण का खेल खेलता है।" विद्यार्थियों के लिए संदेश स्पष्ट है - कृपाण का खेल न खेलकर प्रेमलीला में उलझने वाला कायर है और कायर कौन कहलाना चाहेगा ? राष्ट्र प्रेम की यह एकांगी परिभाषा सिर्फ यहीं नहीं है, सम्पूर्ण पाठ्यक्रम 'प्राण न्यौछावर' बोध से आक्रांत है। मात्र भूमिका और अभ्यासार्थ प्रश्नों में (और यहां हमने राष्ट्र प्रेम के लिए 'कर्मरत होने', 'निष्ठा से जुड़ जाने', 'सक्रिय होने', राष्ट्र निर्माण में जुड़ने', 'लोक कल्याण के लिए कार्य करने' जैसे पदों को सकारात्मक मानकर शामिल नहीं किया।) 'बलिदान होने' या 'प्राण न्यौछावर करने' का गर्वपूर्वक उल्लेख 32 बार आया है। इसमें आप यह भी जोड़ लें "नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहां के लोगों को बड़े-बड़े बलिदानों के लिये तैयार कर सकी।" (भारतीय संस्कृति, बाबू गुलाब राय, प्रवाह, कक्षा 12) यहां तर्क अपनी परिणति को पहुंचता है। राष्ट्र के महाआख्यान में व्यक्तियों के बलिदान को हाशिए पर धकेला जा सकता है, उसकी कोई कीमत नहीं। कहने की जरूरत नहीं कि टाडा, पोटा और (मणिपुर में लागू) सशस्त्र सेना अधिनियम जैसे 'राष्ट्रवादी' अधिनियम यहीं से खुराक पानी प्राप्त करते हैं।

स्कूली जीवन पूरा करने जा रहे विद्यार्थियों की महत्वाकांक्षाएं आकाश-सी व्यापक होती हैं। पहले उनसे 'राष्ट्र प्रेम' के नाम पर 'स्व' के बलिदान की अपेक्षा की जाती है। फिर 'देह' को ग्लानि बिन्दु के रूप में रेखांकित किया जाता है। 'सागर' (कक्षा 11) में प्रश्न आता है - 'इस देही पर गरव ना करना' मीरा की इस पंक्ति का भाव स्पष्ट कीजिए ? इस संग्रह में मीरा के चयनित पद 'संसार की नश्वरता' और 'जीवन की क्षणभंगुरता' को स्थापित करते हैं। मध्यकालीन काव्य की पुस्तक संवेदन, कक्षा 11 की प्रस्तावना 'हिन्दी काव्य का क्रमिक विकास' में सम्पादक ने लिखा है, "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि भक्ति एक परमोच्च साधना का फल है जिसके लिए परम शांत वातावरण अनिवार्य है। इसके लिए संघर्षमय वातावरण अपेक्षित नहीं है और न ही यह हारी हुई मनोवृत्ति की उपज है।" यह सही है कि आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन को इस्लाम के आक्रमण की प्रतिक्रिया मानने से इंकार किया था, लेकिन उन्होंने भक्ति को परम शांत वातावरण में की गई परमोच्च साधना बिल्कुल नहीं कहा था, इसके उलट वे भक्ति

आन्दोलन को लोक और शास्त्र के द्वंद्व के रूप में देखते हैं। द्विवेदी जी के कथन का ऊपर लिखित अर्थ ले लेने से भक्ति एकांत साधना भर रह जाती है और उसके सामाजिक आयाम ओझल हो जाते हैं। अंततः यह इस पूरे संग्रह की दृष्टि सीमा बन जाती है। भक्ति कालीन कवियों की लोक पक्षधरता, वर्णाश्रम पर टिकी शास्त्रीय मान्यताओं से उनका सतत संघर्ष, जीवन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता सभी कुछ ओझल हो जाता है और भक्ति का संदर्भ ईश्वरीय साधना तक सिमट जाता है। यह विडम्बना ही है कि इस पुस्तक के सम्पादक द्वय में से एक द्वारा सम्पादित दूसरे निबंध संग्रह में डॉ. रामविलास शर्मा का निबंध 'तुलसी साहित्य के सामाजिक मूल्य' संकलित है (संचयन, कक्षा 11) पर यहां ये आयाम ओझल है।

हो सकता है कि इसके पीछे ये सोच हो कि सामाजिक भेदों का रेखांकन बालकों के कोमल मन को दूषित कर देगा। लगभग इसी तर्क के साथ एनसीईआरटी की 'प्राचीन भारत' की किताब से जाति प्रथा का उल्लेख हटा दिया गया था। यह सरलीकृत समझ यह समझने में असमर्थ है कि अपने अतीत का समस्याविहीन चित्रांकन एक मिथ्या गौरव बोध को जन्म देता है जो पुनरुत्थानवाद का मार्ग प्रशस्त करता है। एक कठोर आत्मलोचना न सिर्फ इतिहास की द्वन्द्वात्मक समझ बनाती है, बल्कि किशोर-किशोरियों में आज के सामाजिक भेदों के प्रति संवेदनशील दृष्टि भी विकसित करती है। इसके ठीक विपरीत ये किताबें तो यदा-कदा सामाजिक स्तरीकरण को सैद्धांतिक समर्थन देती प्रतीत होती हैं। दो उदाहरण दृष्टव्य हैं। 'रणराग' कहानी की भूमिका में लिखा है, 'इसमें राजपूती आन भी है और स्वाभिमान भी'। एक समुदाय विशेष को वीरोचित गुणों से स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध कर दिया जाना दर्शाता है कि आप नस्लीय श्रेष्ठता के फासीवादी सिद्धांत से सहमत हैं। यह अकर्मक हिंसा है जहां आप एक जाति विशेष को गौरवान्वित कर प्रकारांतर से अन्य कई जातियों के कमतर और क्रमशः नीचे होने के पारम्परिक मिथक को पुष्ट कर रहे हैं।

दूसरा उदाहरण प्रगतिशील बनने की कोशिश में हास्यास्पद परिणति को प्राप्त होता है। कक्षा 12 में चल रहे उपन्यास 'धरती मेरा घर' (रांगेय राघव) की भूमिका में (लेखक द्वारा नहीं, सम्पादकों द्वारा) लिखा गया है, "भारतीय जनमानस अनपढ़ होते हुए भी सुसंस्कृत है। इसका प्रमाण इस उपन्यास में मिलता है।" यह लगभग वही गलती है जो आचार्य शुक्ल ने कुतुबन के बारे में लिखते समय की थी जब उन्होंने लिखा था कि उन्होंने मुसलमान होते हुए भी मनुष्यता का परिचय दिया। यह उपन्यास गाड़िया लौहारों के बारे में है। अतः 'भारतीय जनमानस' पद से सम्पादक का वास्तविक आशय आदिवासी समाज से है। इस वाक्य में अभिजात श्रेष्ठता बोध कूटकूट कर भरा है। यह सामंती उदारता है जो आदिवासियों

के सांस्कृतिक उत्थान (जिसके पैमाने भी इस श्रेष्ठ वर्ग ने तय किए हैं।) को आश्चर्य मिश्रित खुशी के साथ देख रही है। जिस वर्ग को लक्ष्य करके यह बात कही गई है उसे इस दयाभाव की कोई जरूरत नहीं रह गई है, यह बात आज का दलित विमर्श काफी दबंगता के साथ रख चुका है। लगता है पाठ्यक्रम निर्माताओं के लिए दलित वर्ग आज भी अन्य ही है जिसे जगह दी जानी है।

इस विडम्बना का कारण यह है कि पुनरुत्थानवादी दृष्टि सामाजिक भेद को एक स्वाभाविक तथ्य मानकर चलती है जिसके क्रूर पक्ष को अवश्य नियंत्रित किया जाना है किन्तु उसकी सांस्थानिक स्वीकृति तो है ही। उदाहरण के लिए प्रवाह, कक्षा 12 में बाबू गुलाबराय का लेख 'भारतीय संस्कृति' मनुस्मृति में बताए गए धर्म के दस लक्षणों को गिनाकर उन्हें 'भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक संस्कृति का अंग' बताता है। आगे वर्णाश्रम को भारतीय संस्कृति का मुख्य अंग बताते हुए लिखा गया है, "हमारी संस्कृति में कार्य विभाजन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। समाज को चार भागों में बांटा है और मानव जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढ़ते-बढ़ते संकुचित और अपरिवर्तनीय बन गया। अपरिवर्तनीय बनने में भी इतनी हानि न थी यदि सबका महत्त्व सिद्धांत और व्यवहार दोनों में एक-सा मान लिया गया होता।" लेखक को सामाजिक विभाजन के अपरिवर्तनीय अर्थात् जन्म आधारित होने में हानि नजर नहीं आती है और पुस्तक के पृष्ठ भाग पर भारतीय संविधान की उद्देशिका छपी है। जिसमें भारत के नागरिकों को प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करने की घोषणा की गई है।

यह लेख सामाजिक विषमता के सबसे बड़े सैद्धांतिक स्रोत 'पुरुष सुक्त' को (जिसमें ब्रह्मा के मस्तक से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, जंघा से वैश्य एवं पांवों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गई है।) सामाजिक संगठन के ऊंचे आदर्श के रूप में प्रतिस्थापित करता है। दक्षिण पंथ की 'सोशल इंजीनियरिंग' भी इसी सिद्धांत पर टिकी है जिसमें समता तो होगी किन्तु सामाजिक स्तरीकरण की सैद्धांतिक स्वीकृति के साथ। दरअसल कथित निचले वर्गों के सशक्तिकरण के साथ समायोजन के लिए इस प्रकार का 'सहिष्णु स्तरीकरण' मजबूरी हो गया है।

इस लेख के संदर्भ से एक और बात कही जा सकती है। ध्रुवस्वामिनी (नाटक, जयशंकर प्रसाद) कक्षा 12; काव्यांग विवेचन, कक्षा 11-12, यशोधरा (प्रबन्धकाव्य, मैथिलीशरण गुप्त) कक्षा 11 की भूमिकाओं में क्रमशः नाटक, काव्य का स्वरूप एवं प्रबंध काव्य के लक्षण बताते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र का सहारा लिया गया है और उन्हें आसानी से 'भारतीय' कह दिया गया है। इन सभी में एक अनालोचकीय दृष्टिकोण है जो प्रबंधकाव्य के प्रारंभ में ईश्वर वंदना को सहज लक्षण के रूप में गिना देता है, ग्राम्यत्व दोष के पीछे छिपी सामंती अभिजातता को नहीं दूढ़ता और नायिका के चार भेदों- दिव्या, पतिनी, कुलस्त्री और गणिका को सामान्य सूचना के रूप में प्रदान कर लेता है। भारतीय संस्कृति का पर्याय आर्य शास्त्रानुमोदित, वर्णाश्रम समर्थक हिंदू संस्कृति बन जाती है और सामाजिक स्तरीकरण को सांस्थानिक स्वीकृति मिल जाती है। न सिर्फ भारतीय बराबर हिंदू हो जाता है बल्कि बाबू गुलाबराय के लेख में भारतीय और मुस्लिम संस्कृति के स्पष्ट भेद का भी स्पष्ट रेखांकन मिलता है जहां वे मुस्लिम संस्कृति से भारतीय संस्कृति के मेल की बात करते हैं। पूरे लेख में मनुस्मृति, श्रीमद्भागवद्गीता, रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुंतलम् के उद्धरण भरे पड़े हैं। इस प्रकार हिंदुओं की स्वाभाविक राष्ट्रीयता पुष्ट हो जाती है और 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की जमीन तैयार हो जाती है।

यही सहिष्णु हिंसा (जो हिन्दू = भारतीय के मिथक से उपजी है।) तब पुष्ट होती है जब इकबाल के परिचय में प्रवाह कक्षा 12 में कहा गया है, "गंगा जमुनी जमीन की सौंधी गंध एवं भारतीय परिवेश से जुड़े उपमानों और प्रतीकों का प्रभावपूर्ण प्रयोग इनके काव्य का वैशिष्ट्य (है)" किसी भी भारतीय के लिए ये उल्लेखनीय परिचय नहीं माना जाएगा कि उसने भारतीय उपमान और रूपक काम में लिए हैं, बशर्ते कि वो 'स्वाभाविक भारतीय' हो, चूंकि इकबाल मुसलमान हैं। अतः उनके संदर्भ में भारतीय उपमानों का प्रयोग उल्लेखनीय तथ्य बन जाता है। यह टिप्पणी सद्भाव बढ़ा रही है या अलगाव, इस पर टिप्पणी करना व्यर्थ है।

सामुदायिक भेद का यह रेखांकन भाषिक चेतना तक भी जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' की भूमिका में कहा गया है, "ध्रुवस्वामिनी की भाषा शुद्ध, संस्कृतनिष्ठ है। छात्रों को ऐसी भाषा से परिचित

होना ही चाहिए।” ध्रुवस्वामिनी की भाषा शुद्ध है चूंकि उसमें ‘बाहरी’ शब्दों का घालमेल नहीं है। एक ऐतिहासिक कालखंड की भाषा सन् 2005 के विद्यार्थियों के लिए भी शुद्ध और साथ ही वरेण्य है। कहीं कोई गलतफहमी न रह जाए इसलिए सम्पादक आगे लिखते हैं, “सामान्य हिन्दी के पाठ्यक्रम का उद्देश्य छात्रों को शुद्ध भाषा के स्वरूप से परिचित करना होता है। ध्रुवस्वामिनी नाटक निश्चय ही इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा।” ध्रुवस्वामिनी नाटक का यही एकांतिक उद्देश्य है। ध्रुवस्वामिनी के दृढ़ चरित्र के माध्यम से उठाए गए स्त्री स्वाधीनता के प्रश्नों को सम्पादक भूमिका में छूटे तक नहीं हैं।

हिन्दी पट्टी के सांप्रदायिक अलगाव में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है और ये पुस्तक अपना पाला अनेक जगह जाहिर करती है। प्रवाह कक्षा 12 में संकलित पं. जनार्दन राय नागर की कविता ‘ज्योतिर्मय यह देश हमारा’ की भूमिका में इस गीत को प्रांजल भाषा में रचित बताया गया है। इस प्रांजल भाषा के चंद प्रांजल शब्द हैं : ज्योतिर्मय, संवत्सर, सनातन, विश्रुत, वंद्य, मूर्छना, पीड़मय, धृति ! अब लगे हाथ यह भी जान लें कि इकबाल की कविता ‘सारे जहां से अच्छा’ के किन शब्दों का हिन्दी अर्थ पूछा गया है- मजहब, बैर, मरहम ! अब इसके बाद यदि आम विद्यार्थी को हिन्दी से चिढ़ हो तो हमें हैरत नहीं होनी चाहिए।

अतः इस समग्र विश्लेषण के बाद हम यह समझ सकते हैं कि क्यों भाजपा के शासनकाल में भी ये पुस्तकें बहुत असुविधानजक प्रतीत नहीं होतीं और जारी रह पाती हैं। चंद पाठों के फेरबदल से परिप्रेक्ष्य नहीं बदल जाता और यह परिप्रेक्ष्य कमोवेश सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आधारभूमि वाला ही है। दरअसल हमारा कहना यह है कि दक्षिणपंथी विचार को ऐसा ही प्रगतिशील पाठ्यक्रम सबसे अनुकूल रहेगा जो सामुदायिक भेद और सामाजिक स्तरीकरण को सांस्थानिक वैधता प्रदान करे और साथ ही सहिष्णु भी दिखे। इस कसौटी पर भाजपा कांग्रेस में कोई मौलिक अंतर नहीं है।

हमारा आकलन असंतुलित ही रहेगा यदि हम इस पाठ्यक्रम के चुनिंदा वास्तविक प्रगतिशील चयन को रेखांकित न करें। कक्षा 11 की पुस्तक ‘पीयूष’ ऐसा ही संकलन है। यह सम्पूर्ण पुस्तकों में अलग चमकती है। पुस्तक के पहले दो लेख ‘हमारी संस्कृति, हमारी विरासत’ (वशीर अहमद मयूख) और ‘ताज’ (रघुवीर सिंह) साझा संस्कृति की स्वस्थ तस्वीर पेश करते हैं। भगत सिंह के पत्र और ज्योतिबा फुले की जीवनी जहां उपनिवेशवाद विरोधी एवं सामाजिक आन्दोलन की द्रन्द्वात्मकता को रेखांकित करते हैं वहीं मन्नू भंडारी का आत्मवृत्त ‘एक कहानी यह भी’ एक कस्बे में लड़की के पढ़ने, आगे बढ़ने के हौसले का रोमांचक आख्यान है। जवरीमल्ल पारख का लेख ‘सामाजिक न्याय और हिन्दी सिनेमा’

संभवतः पूरे पाठ्यक्रम में दलित विमर्श से संबंधित अकेला चयन है। कृष्ण कुमार का यात्रा वृत्तांत ‘दक्षिण का सुख’ पहली बार हिन्दी पट्टी से बाहर झांककर भारत को समग्रता में समझने का अवसर देता है। कक्षा 12 का कविता संग्रह ‘मरूगंगा’ राजस्थान के कवियों के माध्यम से राजस्थानी संस्कृति का समग्र चित्र पेश करता है जो ‘शौर्य और बलिदान’ से अधिक व्यापक है। कविताओं के चयन में एक प्रतिबद्धता है जो प्रगतिशील मूल्यों को सामने रखती है। प्रेरणा कक्षा 11 की आत्मकथांश या अन्य संकलनों के छिटपुट चयन जैसे रश्मि में ‘गरज बावरी’ कहानी, सागर कक्षा 11 में कहानी ‘ठाकुर का कुआं’, स्मृति कक्षा 9 में संकलित जीवनियां न सिर्फ विद्यार्थियों की सामाजिक जागरूकता बढ़ा कर उनकी मानवीय पहचान को स्पष्ट करती हैं बल्कि सम्पादकों द्वारा अपनी भूमिकाओं में इनके मंतव्यों को तोड़ा-मरोड़ा भी नहीं गया है लेकिन जैसा कि हमने पहले कहा यह अपवाद ही है।

हमारा आग्रह यह कतई नहीं है कि प्रगतिशीलता के हमारे मानकों पर जो रचना खरी उतरे वही पाठ्यक्रम में चुनी जाए। एक लोकतांत्रिक समाज में भिन्न-भिन्न लोगों/समुदायों का सहिष्णुता पूर्ण व्यवहार पहली शर्त है और इस समुदाय में वैचारिक समुदाय भी शामिल है। उदाहरणार्थ, धर्म को राष्ट्र की एकता का आधार मानने वाला विचार पाठ्यक्रम में जगह पा सकता है बशर्ते वो अपने को अकाट्य विचार के रूप में स्थापित न करे। ये पुस्तकें यही करती हैं, इनमें पाठ को अंतिम सत्य के रूप में स्थापित किया जाता है और विद्यार्थी को पाठ के समक्ष नतमस्तक होना सिखाया जाता है। सच तो ये है कि जिन सकारात्मक संकलनों का हमने अन्त में उल्लेख किया वे भी इस कसौटी पर कोई बहुत अनुकरणीय, उदाहरण पेश नहीं करते। एक सामान्य-सा तर्क है कि बहु-विकल्पी प्रश्नों के उत्तर वस्तुनिष्ठ होने चाहिए किंतु माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान की किताबें विद्यार्थी से एक ऐसे निश्चित विकल्प पर सही का निशान लगवाती हैं जिसमें स्पष्ट व्यक्तिनिष्ठ मूल्यबोध छिपा है।

अंत में हमारा कहना बहुत सीधा है- धर्मनिरपेक्षता/ भगवाकरण के इर्द-गिर्द सिमटी बहस अधूरी ही रहेगी, यदि हम बहुल सांस्कृतिक बोध को अपनी पुस्तकों में जगह न दें। यह सवाल सिर्फ ‘हिन्दी’ की किताब और साहित्य के संदर्भ में दृष्टि भेद का नहीं है। यह सवाल असल में यह है कि क्या हम शिक्षा को समतामूलक समाज के निर्माण के आधार के रूप में देखते हैं ? यदि हां तो सामाजिक भेदों के प्रति सहमति परक दृष्टि रखने वाली हमारी पाठ्यपुस्तकें हमारे लिए खतरे की घंटी हैं। यह रास्ता देवराला, झज्जर, मुजफ्फर नगर या मणिपुर पहुंचाता है। इसी रास्ते पर दूर कहीं गुजरात आता है।◆